ORIGINAL RESEARCH PAPER

Edcuation

भारतीय साहित्य में महिला सशक्तिकरण के खोखले दावे

KEY WORDS:

माया रानी

एम.ए. हिन्दी, यूजीसी नैट (हिन्दी) गांव कैरांवाली, डाकखाना–माखोसरानी, तहसील व जिला सिरसा (हरियाणा)

गत एक–आध दशक से भारतीय साहित्य एवं समाज के अनेक क्षेत्रों में एकाएक–महिला सशक्तिकरण, नारी–विमर्श, नारी–स्वतन्त्र्य, नारी–अस्मिता, महिला समानाधिकार, नारी–चेतना जैसे लुभावने शब्दों में नारी की दशा के प्रति चिंता प्रकट करने का प्रचलन चल निकला है। 20 वी. शताब्दी के अन्तिम चरण में जब ऐसे प्रश्न उठते हैं, तो एक ओर तो मन यह सोचने पर मज़बूर हो जाता है कि– दुर्गा, चण्डी, काली और चामुण्डा के रुप में भयातुर दवे सृष्टि तक को दानवी आतंककारियों से भयमुक्त करवाने वाली आदिशक्ति स्वरुपा नारी का सशक्तिकरण!!! और दूसरी ओर यह प्रश्न भी हृदय में कुलबुलाता है कि यह सशक्तिकरण आखिर है क्या? क्या पौरुषेय अहम् से भरा तथाकथित पुरुष समाज वास्तव में यह चाहने लगा है कि सदियों से अपने जिस 'अर्धभाग' को उसने अपने वर्चस्व से दबा रखा था वह सचमुच पूर्ण शक्तिमय हो जाए या फिर यह भी उस समाज की नारी के उभरते, विकसित होते लावे से उगलते जा रहे व्यक्तित्व को शांत एवं ठंडा करने की एक छलना मात्र ही है।

धर्म और इतिहास दोनों साक्षी हैं कि ममता और त्यागमयी नारी ने जब–जब भी पुरुष पर विश्वास कर अपना सब कुछ उसके कदमों पर समर्पित किया है तब–तब किसी न किसी रुप में वह अवश्य छली गई है और यह तथ्य तो मानव सृष्टि के आरम्भ में ही स्पष्ट हो गया था, जब जलप्लावन के उपरान्त तहस–नहस हुई दवे –सृष्टि में एकमात्र बचे 'मनु' निराश, उदास, वैराग्य भाव से परिपूर्ण हो जीवन से ही हताश हो, अकर्मण्य हो रहे थे। तब समर्पणमयी करुणा प्रतिरुपा नारी (श्रद्धा) ने ही स्वयं आगे बढ़कर उससे कहा था कि –

'दब रहे हो अपने ही बोझ, खोजते भी न कहीं अवलम्ब
तुम्हारा सहचर बनकर क्या न, उऋण होऊं मैं बिना विलम्ब
समर्पण लो सेवा का सार, सजल संसृति का यह पतवार
आज से यह जीवन उत्सर्ग इसी पद तल में विगत विकार।''

श्रद्धा मनु के प्रति नारी हृदय की समस्त अलौकिक निधियां – दया, ममता, करुणा, अपनत्व, मधुरिमा और अथाह विश्वास को बिना किसी कामना के समर्पित कर देती है। वह सृष्टि नियंता की सृष्टि को चलायमान रखने के लिए स्रष्टा (ब्रह्म) की इस चाहत को कि –

''आंसू से भीगें अंचल पर मन का सब कुछ रखना होगा
तुमको अपनी स्मित रेखा से यह सन्धि पत्र लिखना होगा।''

नारी (श्रद्धा) उसे भी शिरोधार्य करती है। पर सन्धि तो दो तरफा अधिकारों की समानता की धरातल पर ही होती है ना, लेकिन इसके प्रत्युत्तर में नारी (श्रद्धा) को क्या मिला? उसी के प्रयासों से सचेत, सबल, शक्तिवान बना पुरुष (मनु) उसी को गर्भावस्था की असहाय स्थिति में सोता हुआ छोड, चला गया – अकेला– अपनी पौरुषेय शक्ति का आनंद उठाने।

ऐसे में 'यत्र नार्यस्तु पूजयन्ते रमंते तत्र दवे ता' की वैदिक वाणी भी केवल मनमोहक शाब्दिक अभिव्यक्ति बन कर ही रह जाती है, जिसके कोई अर्थ, कोई मायने नहीं रह जाते क्योंकि जब देवता ही नारी की गहन श्रद्धात्मक समर्पण भावना का तिरस्कार कर उसे ठुकरा दे तो कैसी पूजा?? और कैसा सम्मान ???

देव सन्तति मनु का नारी तिरस्कार तो फिर बहुत बाद की बात है, किन्तु जब देवाधिपति देव भगवान श्री विष्णु 'उनकी सृष्टि' को सम्पन्ना बनाने वाली भार्या देवी लक्ष्मी को हृदय में और परम भक्तिनी पवित्र गंगा को (शिरोधार्य न करके) चरणों में स्थान देते हैं, तब अन्य देव ताओं और मानवों की तो बात ही क्या? जिस नारी रुप को मधु कैटभ वध में 'माया' और भस्मासुर वध में 'मोहिनी' के रूप में स्वयं धारण कर उसे शक्तिशालिनी आदिभवानी के रूप में स्थापित किया, उसी की अवहेलना 'वे' भी यदा कदा करते ही रहे हैं। पृथ्वी स्वयंवर के दरबार में प्रवेश तक की अनुमति नहीं दी थी। अगर स्वयंवर का अर्थ वास्तव में कन्या द्वारा इच्छुक वर प्राप्ति ही होता तो श्रीकृष्ण को रुक्मिणी और अर्जनु को सुभद्रा को उनकी इच्छा एवं प्रेम के बावजूद भगाकर न ले जाना पड़ता अपितु उनके परिजन स्वेच्छा से अपनी बेटियों को उनके इच्छित प्रेमियों के साथ सहर्ष उनका पाणि–ग्रहण करवाते। यूं भी स्वयंवर तो राजाओं की बड़ी–बड़ी प्रतिज्ञाओं और आकांक्षाओं की पूर्तिका प्रतिफलन ही होता था, जिसमें अपनी बेटियों को आधार बनाकर वे अपनी शक्ति प्रदर्शन एवं कामना पूर्ति ही करते थे और उनकी प्रतिज्ञा पूर्ति ना हो पाने की स्थिति में बेटी चाहे आजीवन कुंवारी रह जाएं या अपना मनचाहा वर पाने के लिए कितनी भी उद्विग्न क्यों न हो–उन्हें इस बात की कोई चिन्ता नहीं होती थी। रामायण साक्षी है कि–स्वयंवर से पूर्व गौरी पूजन पर जाते समय सीता जी का वाटिका में श्रीराम से विवाहपूर्व कुछ क्षणों का मिलन ही उन्हें उनके प्रति इस कद्र आकर्षित कर जाता है कि देवी सीता मन ही मन श्रीराम को अपना पति स्वीकार कर मां गौरी के समक्ष उन्हें पति रुप में प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करती हैं, किन्तु स्वयंवर में उनका मन पिता की प्रतिज्ञा के वश होने के कारण विचलित और व्यथित ही बना रहता है–

'तब रामहि बिलोकि बैदेही, सभय हृदय विनवति जेहि तेहि।
मनही मन मनाव अकुलानी, होहु प्रसन्न महेस भवानी।
गन नायक बरदायक देवा, आजु लगें कीन्हिउं तुअ सेवा।
बार–बार बिनती सुनि मोरी, करहु चाप गुरुता अति थोरी।
नीकें निरखि नयन भरि सोभा, पितु पनु सुमिरि बहुरि मनु छोभा।
अहह तात दारुनि हठ ठानी, समुझत नहिं कछु लाभु न हानी।

अर्थात् –श्रीराम के कोमल शरीर को देख सीता जी डरती हैं कि–कहीं वे कठोर धनुष तोड़ कर उन्हें अपना पायेंगे या नहीं मन में डरी हुई वे कभी शिव–भवानी तो कभी गणपति से प्रार्थना करती कहती हैं कि–हे प्रभु आप ही कृपा कर इस धनुष की कठोरता को कम कर दें, ताकि उन्हें मनचाहा वर मिल सके। फिर राम जी के कोमल सुन्दर शरीर को देख और पिता के कठोर प्रण को साचे कर सीता जी का मन क्षुब्ध हो उठता है कि पिता जी ने यह कैसा कठोर हठ ठाना है। अपनी जिद के आगे वे किसी का लाभ हानि नहीं देख रहे हैं। अर्थात् यहां भी स्वयंवर में सीता को स्वयं–वरण करने की आज्ञा नहीं है, अपितु उन्हें पिता की इच्छा और कामना पूर्ति को ही पूर्ण करना है।

इसी प्रकार के प्रमाण वाल्मीकीय रामायण (शड्विंशः सर्ग) में भी मिलते हैं यथा–
जनकानां कुले कीर्तिमाहरिश्यति मे सुता।
सीता शर्तारमासाद्य रामं दशरथात्मजम्।।16।।

''मेरी पुत्री सीता दशरथ नन्दन श्रीराम को पतिरुप में प्राप्त करके मेरे वंश की कीर्ति फैलायेगी।
''मम सत्या प्रतिज्ञा च वीर्यशुल्केति कौशिक।
सीता प्राणैर्बहुमता देया रामाय मे सुता।।17।।

हे कौशिक। मैंने सीता के विवाह के लिए 'वीर्यशुल्क' की जो प्रतिज्ञा की थी वह पूर्ण हो गई। अब मैं प्राणों से भी बढ़ कर प्रिय सीता को राम के लिए दूंगा।

'वस्तुतः सीता का स्वयंवर नहीं हुआ यह तो समाह्वय (चुनौती) था । स्वयंवर का अर्थ है– कन्या का स्वेच्छा से पति को वरण करना। यहां सीता ने अपनी इच्छा से राम को पसन्द नहीं किया है, अपितु राजा जनक ने ही उसे वीर्य शुल्का घोषित किया था।''[1]

ऐसे में नारी स्वतन्त्रता का दम भरने वाले 'स्वयंवर' के दावे भी खोखले ही रह जाते है।

इतिहास और धर्म के असंख्य ग्रंथों में ऐसे अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं, यहां पुरुष की सफलता के पीछे तो अनेक महान नारी विभूतियां (छिपी) खड़ी मिलेंगी, लेकिन नारी की असहाय अवस्था को उभारने वाला कोई विरला पुरुष ही आगे बढ़ा होगा। जब सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलयुग की पूर्व कथाएं ही नारी के दमन की दास्तानों से भरी पड़ी हैं, तो कलयुग के इस गहण अधोगति की चरम सीमा में उसकी सुखद सम्मानीय स्थिति की अपेक्षा कैसे की जा सकती है?

सभ्यता और आधुनिकता का दम भरने वाले, नारी को समानता के अधिकार देने के संवैधानिक दावे करने वाले भारतीय पुरुष समाज में उस समय जैसे मर्मान्तक हाहाकर मच उठता है, जब समाज में आधे की अधिकारिणी को केवल 33 प्रतिशत आरक्षण देने की बात उठती है। अनेक विधान सभाओं के आयोजनों में अनेक विवादों की स्थितियां उभर कर पुरुष समाज के नारी को समानता देने के सभी दावों और वचनों को खोखला और ढोंग बना देती हैं। 'औरत और सत्ता' यह बात पुरुष समाज को कुछ हजम नहीं होती। किसी शासकीय मजबूरी में कभी–कभार कोई लालू यादव किसी राबड़ी देवी की सत्ता को चाहे मंजूर कर ले, पर फिर भी नारी और सत्ता दोनों का रिमोट कंट्रोल अपने ही हाथों में रखना चाहता है।

पर प्रश्न यह उठता है कि भगवान शंकर ने अर्धनारीश्वर रुप में जिस आदि भवानी को सृष्टि प्रारंभ से पूर्व ही शक्तिस्वरुपा स्वीकारा था, आज वह अपनी अदम्य शक्तियों को विस्मृत कर केवल आश्रिता क्यों बनी रहना चाहती है? क्यों आज भी उसकी चाहतों का रिमोट कंट्रोल दूसरों के हाथों में है? क्या कवि जयशंकर प्रसाद के अनुसार सच ही उसकी शारीरिक सुंदरता उसकी दुर्बलता का कारण है–

''यह आज समझ तो पाई हूं, मैं दुर्बलता में नारी हूं।
अवयव की सुन्दर कोमलता लेकर मैं सबसे हारी हूं।''

या फिर युगों पूर्व हुए अन्याय और शोषण उन्हें आज भी कहीं ना कहीं डराये हुए हैं ? बाहरी आततायियों के अतिक्रमण से बचाने के चक्कर में पुरुष समाज ने उन्हें जिस–घर की चारदीवारी, परदे, अशिक्षा, बालविवाह, बहुविवाह और सती दाह–जैसे अनेक अनदेखे बधंनों में बांधा था, आज स्थितियों के बदलने पर भी ''...वे इस उम्मीद पर हाथ पे हाथ धरे बैठी हैं कि किसी महापुरुष का आगमन होगा आरै वे उन लोगों की समस्या का समाधान करेगा.....। अब तक नारी के पक्ष में जो कुछ भी हुआ है वह समाज संस्कारक, शिक्षित पुरुषों की करुणा पर हुआ है। अधिकतर नारी वर्ग अशिक्षा के अंधेरे में ठूंसा हुआ घर गृहस्थी के पिंजरे में कैद रखने के पुरुषतांत्रिक षड्यंत्र का शिकार है। यह नारियां अपने अधिकारों के बारे में बेखबर है और स्वाधीनता के 'स' अक्षर से भी परिचित नहीं है।''[2] .....वे यह नहीं समझती कि ''स्वाधीनता' कोई आगे बढ़कर औरत के हाथ में नहीं रखने वाला कि लो, यह रही स्वाधीनता। औरत को लड़ कर, खुद अपनी स्वाधीनता हासिल करनी होगी। औरत खुद इस बात से अनभिज्ञ है कि वे लोग कहां–कहां से, किस हद तक वंचित हैं और कैसे वंचित हैं। सदी दर सदी से औरत के दिमाग में यह बात ठूंस–ठूंस कर भर दी गई है कि वे लोग दासी हैं, बांदियों की जात हैं। औरत आखिर कैसे मुक्ति पाएं''[3]? स्थितियों–परस्थितियों के कारण ही सही पर निर्बाध शासन और स्वेच्छाचारिता का अधिकारी बना पुरुष समाज तो यही चाहेगा कि –

'मैं शासक, मैं चिर स्वतंत्र, तुम पर भी मेरा–
हो अधिकारअसीम, सफल हो जीवन मेरा'।''

ऐसे में अपने कर्तव्यों को निभाने के साथ–साथ नारी को अपने अधिकारों के प्रति भी स्वयं सचेत होना होगा। अपने आपसी 'द्वेष और डाह पर नियंत्रण कर मिल जुल इस ज्वलंत समस्या को सुलझाना होगा। 'नारी ही नारी की दुश्मन है' जैसी उक्तियों को बदलना होगा। 'फूट डालो और राज करो' की छुपी लालसा लिए पुरुष समाज के समक्ष अपने मैत्री रुप को दर्शाना होगा। 'भ्रूण हत्या, दहेज प्रताड़ना और अन्याय' के विरुद्ध खुद आवाज उठानी होगी हर पल किसी

दूसरे से अपेक्षा ना रख स्वयं अपनी आंतरिक शक्तियों को जागृत कर आगे बढ़ना होगा। अपनी पूर्व दुर्गति नहीं अपितु अपने आदिशक्ति स्वरुप को स्मरण रखना होगा। अपने ही द्वारा उत्पन्न सृष्टि से भयभीत न रह कर उसका उपयोग और उपभोग करना सीखना होगा।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि अब नारी को सिद्ध करना होगा कि पुरुष की मात्र अनुगामिनी बनने से नहीं अपितु अपने अस्तित्व बोध से समानान्तर दिशाओं में चल कर ही समाज में समरसता, समानता, सम्पन्नता और सामंजस्य को बनाए रखा जा सकता है। सृष्टि के जिस सुखद स्वरुप की कल्पना कर स्रष्टा ने उसका निर्माण किया था, वह तभी सार्थक और साकार हो पाएगा जब पुरुष और नारी दो विपरीत और आश्रित नहीं अपितु समानान्तर और पूरक अवयव बनेंगे। स्रष्टा का यह स्वप्न शीघ्र पूर्ण हो यही आस्था और कामना है।

संदर्भ :

आलोच्य ग्रंथ :

1. जयशंकर प्रसाद, कामायनी, दिल्ली : अनीता प्रकाशन, नवीनतम संस्करण।
2. तुलसीदास, श्रीरामचरितमानस, टीकाकार हनुमानप्रसाद पोद्दार गोरखपुर, गीताप्रेस, 103 संस्करण सं. 2051.
3. वाल्मीकीय रामायण, टीकाकार परमहंस जगदीश्वरानंद सरस्वती, गोरखपुर, गीताप्रेस।
4. जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृ.25
5. जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृ. 45
6. तुलसीदास, रामचरित मानस,पृ. 240,241
7. जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृ. 44
8. जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृ. 93

संदर्भ ग्रंथ :

9. परमहंस जगदीश्वरानंद सरस्वती, टीकाकार वाल्मीकीय रामायण, गोरखपुर, गीताप्रेस, संर्ग 36, पृ. 37.
10. मृणाल पांडे, जहां औरतें गढ़ी जाती हैं, दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन, द्वितीय संस्करण 2008, पृ. 16–17.
11. तसलीमा नसरीन, औरत कोई देश नहीं होता, अनुवादक सुशील गुप्ता, दिल्ली: वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2009, पृ. 35.